विदग्ध वाङ्मय की विशिष्ट गद्य कृति : कल्पतरु की उत्सव लीला

• श्रीपर्णा तरफदार

आज की रफ़्तार-भरी जिंदगी के बीच कृष्णबिहारी जी एक ऐसे कृती-व्यक्तित्व हैं जो इस स्वार्थी एवं भोग-विलास में लिप्त संसार में, निर्लिप्त रहकर अपने लेखन के माध्यम से मानव समाज को एक सही दिशा देने का प्रयास किया है. इस अनात्मीय समय में उन जैसा आत्मीय विरल है. ऐसे व्यक्ति की कलम जब उस आध्यात्मिक पुरुष के जीवन को समेटती है, जिसने 19वीं सदी में बंगाल-नवजागरण की लहरों के बीच आविर्भूत होकर अपनी अमर वाणियों से मानव समाज को जागृत किया, तो वह कृति अपने-आप में महत्वपूर्ण बन जाती है. सांस्कृतिक नवजागरण के इस विधायक के संदर्भ में कृष्णबिहारी जी लिखते हैं : "अपने आलोक-आपूरित लीला-प्रसंग और सहज आध्यात्मिक उद्भावना के आत्मीय स्पर्श से परमहंस श्री रामकृष्णदेव ने ब्राह्मनायक केशवचंद्र सेन, ब्राह्म आचार्य विजयकृष्ण गोस्वामी और शशधर विदग्धजन के ही जीवन में रूपांतर नहीं रचा; बल्कि समाज में कदाचार-लिप्त के रूप में कुख्यात (नाट्यशिल्पी एवं रंगकर्मी गिरीशचंद्र घोष), पतिता नारी चरित्र (वारांगना-अभिनेत्री 'नटी विनोदिनी') और अस्पृश्य-अभिशाप से आहत लोगों (दक्षिणेश्वर काली मंदिर के जमादार रसिकलाल हाड़ी) का अपने अंतरंग संस्पर्श से ग्लानि-मोचन कर उनके मनःलोक को उज्ज्वल सोपान की ओर प्रवृत्त किया; दुर्भाग्यग्रस्त नारी-चरित्र में आशा-आश्वासन रच कर मरू-मनोभूमि को हरीतिमा-संपन्न किया जैसे अभिशप्त अहल्या का राम ने उद्धार किया था ." वस्तुतः विशृंखला तथा अशांति के तूफान के बीच सनातन धर्म की शाश्वत स्निग्ध ज्योति एवं विश्व-विस्तीर्ण उदार उन्मुक्ति के लिए सुदूर दक्षिणेश्वर में उस महासत्ता परमहंस श्री रामकृष्ण देव का आगमन हुआ था जिन्होंने मृतप्रायः समाज में निःश्वास और आश्वास का संचार करते हुए चतुर्दिक प्रेम, शान्ति, संगति, संहति एवं समन्वय की भावना का विस्तार किया.

'कल्पतरु की उत्सव लीला' में कृष्णबिहारी जी द्वारा गुंथे गये अक्षरों में 'कामारपुकुर के सौभाग्य' गदाधर चट्टोपाध्याय (परमहंस) का जीवन एवं तत्कालीन परिदृश्य मूर्त हो उठा है. सच तो यह है कि ठाकुर के जीवन को वही अक्षरबद्ध कर सकता है, जो स्वयं सौ-टका खांटी हो. अकारण नहीं कि पंडित विद्यानिवास मिश्र ने श्री रामकृष्ण देव के जीवन-प्रसंग को उपजीव्य बना कर उन्हें पुस्तक रचने की प्रेरणा दी. ठाकुर के जीवन में गहरे उतर कर उसे संपूर्णतः आत्मसात करते हुए प्रस्तुत करना सरल नहीं है. लेकिन कृष्णबिहारी जी ने इस दुःसाध्य कार्य को भी अपनी दक्षता के साथ संपन्न किया तथा ठाकुर के मुहावरे में और उन्हीं के मुंह से पूरी कथा कहलवायी. परमहंसदेव अपने समय में वेद-वेदांत की बातों, जीवन के गूढ़सत्य को भी अपनी सहज कौतुकी भाषा में उजागर कर देते थे. इसलिए वे समाज के हर श्रेणी के मनुष्य के हृदय में अपनी जगह बनाने में सक्षम हुए. कृष्णबिहारी जी ने ठाकुर की उसी शैली को अपना कर इस सुंदर कृति की रचना की है : "ठाकुर के मुहावरे में, उन्हीं के मुंह से, पूरी कथा कहलाना सचमुच बड़ी चुनौती थी. असमंजस बड़ा गहरा था, पर जब लिखना शुरू किया तो लगा जैसे ठाकुर अपनी सहज कौतुकी शैली में मुझसे बोल-बतिया रहे हैं, मुझे केवल लिपिक की भूमिका पूरी करनी है." यह कृष्णबिहारी जी की उदारता ही है; जिस कारण उन्होंने स्वयं को केवल लिपिक कहा. उन्होंने जहां एक हाथ से ठाकुर की जीवन-शैली को अपने रससिक्त शब्दों में कलात्मक अभिव्यक्ति दी, वहीं दूसरे हाथ से इस स्तुत्य-कार्य को ईश्वर के पादपद्मों में समर्पित कर दिया. वास्तव में इस कृति से गुज़रते हुए कहीं भी शुष्कता या नीरसता का बोध नहीं होता, बल्कि हृदय में रस - संचार होता है एवं लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति होती है. कहीं-कहीं बांग्ला भाषा की शब्दावली के प्रयोग के साथ भक्त रामप्रसाद एवं ब्राह्म समाज के गीतों (बांग्ला में) के समावेश से यहां हिंदी और बांग्ला के सुंदर योग को भी देखा जा सकता है, साथ ही संस्कृत और भोजपुरी की छटा तो है ही. राममूर्ति त्रिपाठी ने ठीक ही लिखा है : "डॉ. कृष्णबिहारी मिश्र ने आध्यात्मिक संवेदना की अचूक (अचुक) स्याही से इस कृति का प्रणयन किया है. स्याही की आद्यंत एकरसता और एकरूपता अप्रतिम है. इस संवेदना का एक तत्ववाद है जो ...ध की तरह कृति में अंतर्व्याप्त है. कहा जाता है – 'देवो भूत्वा देवं ...जेत' – जिसकी पूजा-आराधना करनी हो – आराधक पहले ...ही होने का प्रयास करे. उस भावभूमि पर आरूढ़ होने पर वह ...थासंभव ठीक दिखाई पड़ता है. कृति से गुज़र जाने के बाद लगता ...कि डॉ मिश्र की चेतना पर चांडित्य या पांडित्य का आतंक नहीं और न ही वे उस भाव पर आरूढ़ होकर कल्पतरु के लीला-रस ...ा साक्षात्कार कर रहे हैं।.........अतः पूरी कृति में भाव का ही साम्राज्य है. तत्ववाद के रत्न अनायास यत्र-तत्र उमड़ पड़ते हैं." ...गाल में जिस समय चारों तरफ अंगरेज़ों का दबदबा और समाज ...के उच्च वर्ग का बोलबाला था, जातिवाद एवं अंधविश्वास के विषाक्त धुंए में मनुष्य का दम घुटने लगा था, स्त्रियों पर अमानवीय अत्याचार हो रहे थे, उस दौरान एक साथ कई विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ जो 'वेद-उपनिषद् की अभिज्ञता के आधार पर तर्क के तीर के सहारे तमस से लड़ रहे थे.' इन विभूतियों के बीच उस महासत्ता परमहंस देव का आविर्भाव हुआ जो 'औपनिषदिक ऋषियों की तरह मेधा, बहुश्रुतता और तर्क को सत्योप्लब्धि के लिए अपर्याप्त ही नहीं, बाधक भी मानते थे' साथ ही वे ऐसी पंडिताई और शास्त्र-ज्ञान को अस्वीकारते हैं, जो 'कूड़ा-कुंठा और लघुता से मुक्त कर उदार नहीं बनाता'. कृष्णबिहारी जी की टिप्पणी है : "रामकृष्ण देव की विवेक-कसौटी केवल उसे ही विद्या मानती थी, जो बंधन-मुक्ति की सुगम राह रचती है और परा विद्या की ज्योति की ओर अभिमुख करती है." वस्तुतः तत्समय ठाकुर ने 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की विचारधारा को पुनर्स्थापित करते हुए इस बात को प्रसारित किया कि सेवा ही संस्कृति का सार एवं धर्म है. उन्होंने भक्ति के आदर्श को वेदांत-ज्ञान के साथ समन्वित कर 'शिव ज्ञान से जीव की सेवा' को ही महत्व दिया था. अर्थात, शिव-रूप जीवों (प्राणी) की सेवा ही असली भक्ति है.

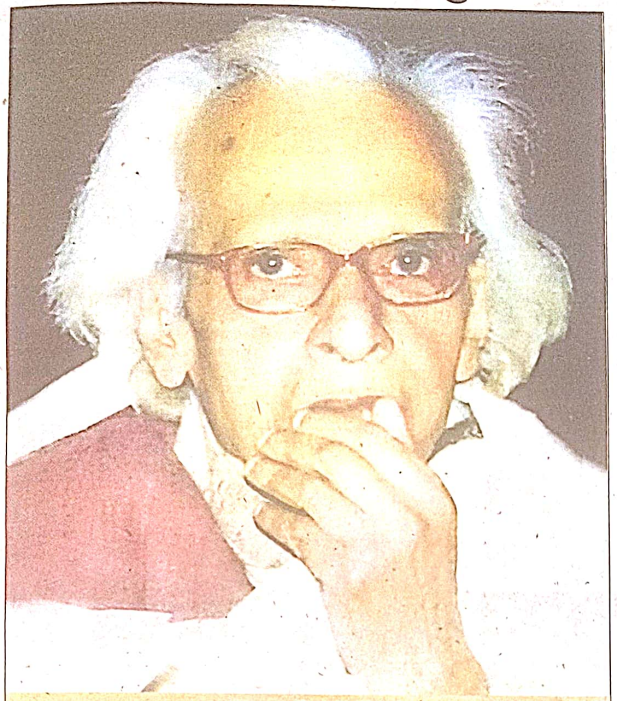

डॉ कृष्णबिहारी मिश्र

सगुण ईश्वर के उपासक एवं मंदिर में विग्रह-पूजा करने के बावजूद ठाकुर मनुष्य में ईश्वर को देखते थे. दरअसल उनकी दृष्टि में 'जीवित देवता' की पूजा (सेवा) ही असल तीर्थ है. तभी तो रानी रासमणि के दामाद मथुर के साथ तीर्थ पर निकल कर जब उन्होंने गरीब, भूखे एवं वस्त्रहीन संथालों को देखा, तो उनकी सेवा के लिए तत्पर हुए. यही नहीं, उन्होंने मथुर के भ्रम का निवारण करने के साथ धर्म का असल पाठ भी पढ़ाया. ठाकुर अपनी कौतुकी-मुद्रा में कहते हैं "उसे भ्रम था कि शिवलिंग को जल चढ़ाकर उसने सुरक्षा-कवच उपलब्ध कर लिया है. मैंने उसे समझाया कि 'ऐसे नहीं होगा, जीवित शिव-पार्वती, कार्तिकेय, गणेश निरन्न-निर्वस्त्र यहां कलप रहे हैं, इन्हें पूजो तब तीर्थ का फल मिलेगा. धर्म वह नहीं है जिसे तू समझ रहा है.' रानी के दामाद का चेहरा अहंकार से तमतमा गया. कहने लगा, 'मैं सदावर्त करने नहीं निकला हूं.' मैंने कहा, 'मैं तो तीर्थ करने निकला हूं मगर, इसलिए देवता को बिना नैवेद्य निवेदित किये अन्न का एक भी कण मुंह में नहीं डालूंगा.' सत्याग्रह का ज़ोर देखा तो कांपने लगा, अहंकार और क्रोध से. मगर मेरा क्रोध नाटक थोड़े था. अन्नपूर्णा के इशारे पर बैठ गया अनशन करके. गरीब बाभन और राजा की लड़ाई थी. सीख गये बच्चू. पसीना छूट गया सत्याग्रह के ताप से. ....बोला, 'खूब आपने धर्म का अर्थ समझाया बाबा."

ध्यातव्य है कि भारत के प्राचीन ग्रंथों में भी मनुष्यता को ही धर्म माना गया है, जिसमें कर्तव्य, अहिंसा, न्याय, सदाचार एवं सद्गुण का समावेश है. एक आधुनिक संत की वाणी है, 'मानुष की उपेक्षा कर मां (ईश्वर) को पाना असंभव है क्योंकि मानुष शब्द का प्रथमाक्षर मा है.' ठाकुर इस तथ्य से परिचित थे और उनका स्पष्ट कथन था : "जो परायी पीर से संवेदित नहीं होता वह कैसा वेदांती?" इसलिए उनके लिए विद्यासागर करुणा के सागर थे, जो सही मायने में सगुणोपासक थे : "कमाई है विद्यासागर की. करुणा में पगा है उसका ज्ञान. जीवित देवता की पूजा करता है. सगुणोपासना. दुर्भाग्य-ग्रस्त लोगों की पूजा ही सच्ची भक्ति है. भक्त है विद्यासागर. न धूप, न दीप, न अक्षत, न रोली, न घंटी, न माला, न ज्ञान का दंभ, न वेदांत का ढोंग. धोती-फतुआ, जनेऊ और मोटी टिकियावाले तो और भी हैं, पर विद्यासागर असली ब्राह्मण है, अपनी विद्या और करुणा के बल पर." वस्तुतः सच्चे पंडित एवं मनीषियों के ज्ञान एवं कीर्ति श्रीरामकृष्ण देव को आकृष्ट करते थे. व्यक्ति के चरित्र के आधार पर उसकी पवित्रता का निर्णय करनेवाले ठाकुर के लिए 'जोलाहा-मुसलमान और बाभन में तथा बाभन और लोहार में' कोई भेद नहीं था. उनकी दृष्टि में सभी समान थे. तभी तो अपने उपनयन-संस्कार में उन्होंने हठपूर्वक पहली भीख धनी (लोहार की बेटी) से ली, क्योंकि बचपन में ही उनका साक्षात उस सत्य से हो चुका था कि न कोई छोटा है न बड़ा, सभी ईश्वर की संतान हैं. ठाकुर 'धर्म के मचान पर भाषण देने' वाले पंडितों में से नहीं थे. वे धर्म को जीते थे और छल-कपट एवं कामिनी-कंचन को लक्ष्य प्राप्ति के मार्ग में बाधक मानते थे. उनकी दृष्टि में सच्ची श्रद्धा, प्रेम एवं आस्था ही लक्ष्य तक पहुंचने का सही मार्ग है.

बहरहाल ठाकुर का जीवन ईश्वर के प्रति ही समर्पित था. परंतु उनके चतुर्दिक व्याप्त सामाजिक विषमताओं ने भी उनका ध्यान आकृष्ट किया था. इसलिए उन्होंने तत्कालीन समस्याओं को देखते-समझते हुए अपने आचरण और वाणी के माध्यम से उसका विरोध किया था. धर्म के नाम पर फैली विकृतियों को दूर किया था. ईश्वर की कृपा प्राप्ति के लिए वे उपवास इत्यादि में विश्वास नहीं करते थे. उनकी दृष्टि में शूकर का मांस खानेवाले आदमी में भी यदि ईश्वर के प्रति सच्ची भक्ति हो, तो वो धन्य है अन्यथा हविष्य भोजन करनेवाले मनुष्य में यदि संसार के प्रति आसक्ति हो तो उसका 'मूल्यवान् मानुष जीवन अकारथ है.' उनका स्पष्ट मत था कि 'खाली पेट धर्म नहीं होता.' गुरु की वाणी को समझते हुए विवेकानंद ने ईसाई धर्म-प्रचारकों से कहा था : "जो रोटी का भूखा है उसके सामने धर्म-पोथियां पेश करना उसका अपमान करना है" (बेहया का जंगल और नयी-नयी घेरान).

> 99
>
> बंगाल में जिस समय चारों तरफ अंगरेज़ों का दबदबा और समाज के उच्च वर्ग का बोलबाला था, जातिवाद एवं अंधविश्वास के विषाक्त धुंए में मनुष्य का दम घुटने लगा था, स्त्रियों पर अमानवीय अत्याचार हो रहे थे, उस दौरान एक साथ कई विभूतियों का प्रादुर्भाव हुआ जो 'वेद-उपनिषद् की अभिज्ञता के आधार पर तर्क के तीर के सहारे तमस से लड़ रहे थे.' इन विभूतियों के बीच उस महासत्ता परमहंस देव का आविर्भाव हुआ जो 'औपनिषदिक ऋषियों की तरह मेधा, बहुश्रुतता और तर्क को सत्योप्लब्धि के लिए अपर्याप्त ही नहीं, बाधक भी मानते थे' साथ ही वे ऐसी पंडिताई और शास्त्र-ज्ञान को अस्वीकारते हैं, जो 'कूड़ा-कुंठा और लघुता से मुक्त कर उदार नहीं बनाता'. कृष्णबिहारी जी की टिप्पणी है : "रामकृष्ण देव की विवेक-कसौटी केवल उसे ही विद्या मानती थी, जो बंधन-मुक्ति की सुगम राह रचती है और परा विद्या की ज्योति की ओर अभिमुख करती है."

परमहंसदेव अपने आत्माभिमान को विसर्जित कर मंदिरों में भिखरियों के जूठे पत्तलों को उठाने और साफ करने से हिचकते नहीं थे. उन्होंने कहा था कि भक्तों की कोई जात नहीं होती. इसी संस्कार-भाव को उनकी भार्या (पत्नी) शारदा मां ने भी सहर्ष अपनाया था. कृष्णबिहारी जी श्री मां के संदर्भ में लिखते हैं : "उनका संवेदन तंत्र परमहंसदेव जैसा ही स्पर्श-कातर था. .... उनके पारिवारिक संदर्भ और काल-संस्कार को देखते, अपराधी के रूप में कुख्यात एक मुसलमान चरित्र को अपने आंगन में बैठा कर अपने हाथ से भोजन कराना और उसकी जूठी थाली स्वयं श्रद्धापूर्वक धोना श्रीरामकृष्ण परमहंस की गृहिणी के लिए ही संभव था. और तत्कालीन सामाजिक दृष्टि से ऐसी क्रांतिकारी भूमिका थी, जो परमहंस-विभूति को गोचर समृद्धि देनेवाली घटना थी, जिसका लोक-चरित्र पर सीधा और गहरा असर पड़ता था." अकेली शारदा मां ने ही नहीं, बल्कि ठाकुर के सभी शिष्यों ने भी उनका अनुगमन किया था. विशेषकर विवेकानंद ने, जिन्होंने अपने गुरु के आदर्श और विचारधारा को समूचे विश्व के दरबार में प्रतिष्ठित किया.

वस्तुतः ठाकुर ने सामाजिक उत्थान एवं मानव कल्याण हेतु 'यंग बेंगाल' (Young Bengal) का संधान किया था. उन्होंने युवा-शिष्यों का एक ऐसा दल तैयार किया, जो समाज में फैली विकृतियों को दूर कर सत्यम, शिवम एवं सुन्दरम की स्थापना कर सके. पोथी-विद्या को अपर्याप्त माननेवाले परमहंसदेव की भले ही पोथी-पाठशाला में अरुचि रही हो, परंतु परवर्तीकाल में शिक्षा के प्रति उनके अनुराग का परिचय तब मिलता है, जब वे लाटू महाराज को शिक्षित करने का प्रयास करते हैं. श्री मां भी भक्तों को शिक्षा प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती थीं. केशवचंद्र के शब्दों में वह 'पति की ऊंचाई के प्रति समर्पित' थीं. श्री मां जिस तरह अपने पति की ऊंचाइयों से परिचित थी, उसी प्रकार ठाकुर भी अपनी भार्या की ऊंचाइयों से परिचित थे. तभी तो उन्होंने अपनी भार्या की षोडशोपचार से पूजा करके उन्हें मां (जगदंबा) का स्थान दिया था. संसार के सम्मुख विवाह का आदर्श प्रस्तुत करते हुए पति-पत्नी भोगासन पर ना बैठ कर, योगासन पर बैठे. जो कामिनी हो सकती थी, वह ज्योतिर्मयी जगद्धात्री बनी. रति की पृथ्वी पर ठाकुर ने प्रतिष्ठित किया मूर्तिमती वि-रति को – अतृप्ति के जगत में संतोषमयी को. नारी की वृहत्तम महिमा को उन्होंने नारी को ही अर्पित किया. कृष्णबिहारी जी लिखते हैं : "स्त्री जाति की ऐसी शीर्ष प्रतिष्ठा मानव-इतिहास में विरल है....." सच है, स्त्री को जहां मनुष्य का दर्जा ही नहीं दिया जाता है, वहां ठाकुर के लिए वह श्रद्धा और सम्मान की पात्र है. इसलिए स्त्री का पर्दे में कैद रहना उनके लिए असहनीय था. यहां तक कि जिस प्रकृति प्रदत्त माहवारी के कारण स्त्री को पूजाघर से दूर रखा जाता है, उसका भी विरोध ठाकुर ने किया था. उनकी दृष्टि में यदि कामाख्या मां की पूजा शक्ति के रूप में संभव है, तो उसी देवी (स्त्री) के साथ प्राकृतिक-चक्र के कारण अछूतों जैसा व्यवहार क्यों? वास्तव में ठाकुर केवल संत नहीं थे बल्कि एक क्रांतिकारी थे, जिन्होंने जीवंत उदाहरणों के माध्यम से तत्कालीन समाज को अंधकार मुक्त करने का सफल प्रयास किया.

परमहंस देव ने भारत के मूल मंत्र, त्याग और सेवा को आत्मसात करते हुए, उस मंत्र को अपने शिष्यों के कानों में फूंका था तथा उन्हें एक ऐसे भारत-वर्ष का स्वप्न दिखाया था, जहां मनुष्य-मनुष्य का कोई विभेद नहीं होगा; जात-पात, छूत-अछूत को भुला कर सभी सुख और शांति से रहेंगे. यद्यपि गले के असाध्य रोग से पीड़ित ठाकुर का पार्थिव शरीर पंचतत्व में विलीन हो गया है, परंतु उनकी वाणी की अनुगूंज आज भी सुनाई देती है. उनका मुख्य लक्ष्य था - मनुष्य की चेतना को जागृत करते हुए समाज में समानता का प्रसार करना. गुरु की शिक्षा व दीक्षा से अनुप्राणित प्रिय शिष्य नरेंद्र (विवेकानंद) ने भी उस भारत का स्वप्न देखा था, जो अपनी आध्यात्मिक चेतना के बलबूते हिंसा में उन्मत्त समस्त पृथ्वी को शांति के मार्ग पर प्रशस्त करेगा. इसलिए उन्होंने समूचे विश्व के सम्मुख भारत की आध्यात्मिक चेतना एवं शक्ति को उपस्थित किया. यही नहीं, गुरु के महत उद्देश्य को जानते-समझते हुए उन्होंने अपने तमाम गुरु भाइयों के साथ मिल कर समाज व मानव कल्याण हेतु रामकृष्ण मठ की स्थापना की.

श्रीरामकृष्ण देव नाना (विविध) पथ के पथिक थे. कृष्णबिहारीजी के शब्दों में वे 'सर्वधर्म समभाव के विग्रह थे'. जिस प्रकार उन्होंने तोतापुरी तथा भैरवी मां से दीक्षा ली थी, उसी प्रकार इसलाम में भी दीक्षा ली थी. विभिन्न पथ एवं मत के जरिये साधना करने के उपरांत उन्होंने कहा था - 'जितने मत उतने पथ' और सभी पथ एक ही जगह मिलित हुए हैं. एक ही तालाब के अलग-अलग घाट से पानी लेकर कोई उसे जल कहता है, कोई आब तो कोई वाटर. अंततः है तो वो पानी ही. ईश्वर भी उस पानी की तरह ही एक है. केवल हम उन्हें भिन्न-भिन्न नाम से संबोधित करते हैं. तभी तो ठाकुर केशवचंद्र से कहते हैं : "सुन रे केशव, असल बात जान ले, तू जिसे ब्रह्म कहता है, उसे ही मैं मां कहता हूं. तेरा ब्रह्म और मेरी मां दो नहीं, एक ही हैं." वह आगे कहते हैं "मां बड़ा कोमल शब्द है, नितांत अपना. मां साथ रहती है तो भरोसा बना रहता है. इसीलिए मुझे मां ही रुचती है." इस आखिरी वाक्य के संदर्भ में मुझे कृष्णबिहारी जी की एक बात याद आ रही है. एक दिन बातचीत क़े दौरान उन्होंने मुझसे अनायास ही पूछा : मैं अपनी माता को क्या कह कर संबोधित करती हूं? मैंने उत्तर दिया 'मां कह कर'. यह सुन उन्होंने मुस्काते हुए कहा : 'मां शब्द में जितनी कोमलता और अपनत्व है, वो मम्मी या मम्मा शब्द में नहीं है. मां शब्द अपने-आप में ही एक शक्ति है.' उस दिन यह बात सुन कर मैंने यही महसूस किया कि इस बेचैन समय में एक ऐसा व्यक्ति भी है, जो अपनी परंपरा और संस्कृति को इतनी संजीदगी के साथ जी रहा है.

संवेदनहीनता के इस दौर में जहां मनुष्य का जीवन मूल्यों के अभाव में पतन की ओर उन्मुख हुआ है, वहां श्रीरामकृष्ण देव की प्रासंगिकता बढ़ गयी है. ऋषि-मुनियों ने मनुष्य-जीवन के जिन चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) का उल्लेख किया है, उनमें धर्म को प्रथम स्थान दिया है. कारण धर्म ही भोग-विलास की प्रवृत्ति को संयत करते हुए सही मार्ग दिखाता है. परंतु वर्तमान में मानव-जीवन के उस चरम आदर्श धर्म का तात्पर्य, व्यक्तिगत व समष्टिगत जीवन में उसकी प्रयोजनीयता एवं प्रभाव प्रभृति विषय की सुस्पष्ट धारणा का अभाव दृष्टिगोचर होता है. आज आवश्यकता है धर्म के वास्तविक अर्थ से परिचित होने की, छीजते मूल्यों और ढहती संस्कृति को बचाने की. इसमें दो राय नहीं कि कृष्णबिहारी जी ने अपने लेखन के माध्यम से मानवीय मूल्यों को निरंतर बचाने का प्रयास किया है. अकारण नहीं कि शेखावटी-यात्रा के दौरान रामकृष्ण आश्रम के विच्छिन्नतावादी मनोभाव तथा आधुनिक संत, जो अपने धर्म को विस्मृत कर राजसिक जीवन बिता रहे हैं, उनके संदर्भ में लेखक के मन में प्रश्न उमड़ते हैं. इसलिए उन्होंने 'सारे धर्म-संप्रदाय को अपने महाभाव में समाहित करने को आग्रहशील' श्री रामकृष्ण देव के जीवन-प्रसंग पर उपलब्ध साहित्य का अवगाहन करके, युगीन संदर्भों के अनुरूप, सटीक स्थलों का चयन कर उसे प्रसंगानुकूल भाषा में अभिव्यक्त किया. इस दृष्टि से उनकी कृति 'कल्पतरु की उत्सव लीला' एक महापुरुष की जीवनी मात्र नहीं है, अपितु उस महासत्ता परमहंसदेव की कीर्तियों एवं वाणियों को पुनर्स्थापित करते हुए आधुनिक जीवन-जगत को सही दिशा में अग्रसर करने का एक महत्वपूर्ण माध्यम भी है.

-लेखिका बंगवासी मॉर्निंग कॉलेज, कोलकाता में सहायक प्राध्यापक हैं.